



## International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2019; 5(1): 42-44

© 2019 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 05-11-2018

Accepted: 09-12-2018

**Dr. Deepti Kumari**

Sanskrit Teacher, Directorate of  
Education, Delhi, India

**Dr. Asheesh Kumar**

Assistant Professor, Department  
of Sanskrit, Rajdhani College  
University of Delhi, Delhi, India

### धर्मशास्त्रों में धर्म का स्वरूप एवं धर्म के स्रोत

**Dr. Deepti Kumari and Dr. Asheesh Kumar**

**सारांश**

भारतीय धर्मशास्त्रों में आचार एवं गुणों को धर्म माना गया है। वे मनुष्य के लिए पालनीय हैं। धर्म के इस रूप का स्रोत वेदों को माना है। मनु ने धर्म का लक्षण करते हुए कहा है कि वेद, स्मृति, आचार, और मन की प्रसन्नता यह चार धर्म के साक्षात् लक्षण हैं।

प्रस्तुत लेख में धर्म का सामान्य रूप, आश्रमों और वर्गों के विशिष्ट कर्तव्यों के रूप में धर्म, राजा के धर्म, देश धर्म इत्यादि की चर्चा की गई है। इसके साथ ही धर्मशास्त्र में धर्म के स्वरूप का वर्णन किया गया है जिसके अंतर्गत वेद, स्मृति और सदाचार की चर्चा की गई है।

भारतीय धर्मशास्त्रों में मानवीय आचार एवं गुणों को धर्म माना गया है।<sup>[1]</sup> वे मनुष्य के लिए पालनीय है। धर्म के इस रूप का स्रोत वेदों को माना गया है। मनु के अनुसार वेद अखिल धर्म का मूल है।<sup>[2]</sup> 'आपस्तम्ब धर्मसूत्र' की 'उज्ज्वला टीका' में धर्म के विषय में कहा गया है कि धर्म अपूर्व के माध्यम से स्वर्ग और मोक्ष का कारण बनता है।<sup>[3]</sup> मनु ने धर्म का लक्षण करते हुए कहा है कि वेद, स्मृति, आचार और मन की प्रसन्नता ये चार धर्म के साक्षात् लक्षण हैं।<sup>[4]</sup> धर्मशास्त्रों में धर्म के तीन स्वरूप प्राप्त होते हैं –

**(1) धर्म का सामान्य रूप** – मनु एवं याज्ञवल्क्य ने धर्म के कुछ सामान्य लक्षणों का उल्लेख किया है। जो मनुष्य के नैतिक गुण हैं। ये दस धर्म के लक्षण हैं – धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियों को वश में करना, ज्ञान-विद्या, सत्य, क्रोध का त्याग।<sup>[5]</sup> जो द्विज उपर्युक्त धर्म के दस लक्षणों का अध्ययन व आचरण करते हैं, वे मोक्ष को प्राप्त करते हैं। याज्ञवल्क्य ने धर्म के नौ लक्षण बताये हैं तथा उनमें अहिंसा, दान आदि कुछ नवीन लक्षणों को स्थान दिया है।<sup>[6]</sup> याज्ञवल्क्य के अनुसार सामान्य धर्म मनुष्य के लिए 'आत्मदर्शन' का कार्य करता है।<sup>[7]</sup> गीता में यज्ञ, तप, अहिंसा सत्य अक्रोध, दया, क्षमा आदि धर्मों को सत्वगुणमयी प्रकृति का आश्रय ग्रहण करने वाला कहा है। जन्मधारण करने वाले के स्वभाव से ही ये धर्म बनते हैं।<sup>[8]</sup>

**(2) आश्रमों और वर्गों के विशिष्ट कर्तव्यों के रूप में धर्म** – धर्म के सामान्य स्वरूप के अतिरिक्त धर्मशास्त्रों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के पृथक्-पृथक् विशेष धर्मों का भी प्रतिपादन किया गया है।

<sup>1</sup> आचारः परमो धर्मः। (मनु., 1/108)

<sup>2</sup> (क) वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। (मनु०, 246)

(ख) वेदो धर्ममूलम्। (गौतम-धर्मसूत्र, 1/1)

<sup>3</sup> कर्मजन्योऽभ्युदयनिः श्रेयसहेतुरपूर्वाख्य आत्मगुणोर्धर्मः। (आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/1पर उज्ज्वला टीका)

<sup>4</sup> वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।

एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ (मनु०, 2/92)

<sup>5</sup> धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ (मनु०, 6/92)

<sup>6</sup> अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

दानं दमो दया क्षान्तिः, सर्वेषां धर्मसाधनम्॥ (याज्ञ०, 1/121)

<sup>7</sup> इच्छाचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्।

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्॥ (याज्ञ०, 1/8)

<sup>8</sup> भ.गी. (3/16)

**Corresponding Author:**

**Dr. Asheesh Kumar**

Assistant Professor, Department  
of Sanskrit, Rajdhani College  
University of Delhi, Delhi, India

मनुस्मृति में ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सभी वर्गों का विशेष धर्म प्रतिपादित किया गया है।<sup>[9]</sup> ये धर्म प्रत्येक वर्ग को विशिष्ट कर्तव्य के रूप में प्राप्त होता है। अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार ब्राह्मचारी, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र का जो-जो कर्तव्य निर्धारित किया गया है वही उसका धर्म है। यथा – पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना, दान देना और लेना ब्राह्मण का कर्तव्य है। प्रजा रक्षण, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, विषयों में अनासक्ति क्षत्रियों का कर्म है। पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, व्यापार करना, ब्याज लेना और खेती करना वैश्यों का धर्म है तथा सेवा करना शूद्र का कर्तव्य है। इसके साथ ही भिन्न-भिन्न आश्रमों के भी भिन्न-भिन्न धर्म हैं। अपने-अपने धर्मों का पालन करना प्रत्येक आश्रम एवं प्रत्येक वर्ण का परम लक्ष्य है।

**(3) स्त्री-पुरुष, राजधर्म, देशधर्म व जाति धर्म आदि विशेष धर्म** – धर्म के उपर्युक्त स्वरूप के अतिरिक्त धर्मशास्त्रों में स्त्री धर्म, पुरुष धर्म, राजधर्म, देश धर्म आदि विशेष धर्मों का भी वर्णन प्राप्त है। मनु ने स्त्री धर्म आदि विशेष धर्मों का उल्लेख मनुस्मृति में किया है।<sup>[10]</sup> स्त्री का धर्म है कि वह सदैव प्रसन्नचित्त रहे तथा अपने घर के कार्यों को चतुराई से करे। संक्षेपतः स्त्री पुरुष मरण पर्यन्त परस्पर एक दूसरे के अनुकूल रहें यह स्त्री पुरुष धर्म है।<sup>[11]</sup> राजधर्म राजा का धर्म के है वह प्रतिदिन वेदज्ञ, विद्वान् ब्राह्मणों की सेवा करें। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि यद्यपि सामान्य धर्म, वर्णाश्रम का एवं विशेष धर्म के रूप में धर्म के जिन लक्षणों का प्रतिपादन किया है उनका निर्वाह करना अत्यन्त आवश्यक है किन्तु प्रसङ्ग, परिस्थिति एवं काल के अनुसार कभी-कभी इन नियमों का अतिक्रमण भी समाज में देखा जाता है। ऐसी स्थिति में, सामान्य नियमों का अतिक्रमण ही धर्म है क्योंकि समाज निरन्तर परिवर्तनशील है तथा समाज में परिवर्तन के साथ-साथ धर्म का स्वरूप भी परिवर्तित होता रहता है। मनु ने भी कहा है कि मनुष्यों के धर्म सत् युग में भिन्न प्रकार के होते हैं, त्रेता में अन्य प्रकार के होते हैं, द्वापर में भिन्न प्रकार के एवं कलियुग में अन्य प्रकार के होते हैं।<sup>[12]</sup>

### धर्ममूल स्रोतों का धर्मशास्त्र में स्वरूप

**(1) श्रुति या वेद** – वेद के शब्द सरल, महत्त्वपूर्ण और प्राचीन हैं, वे श्रद्धा और भक्ति से, विश्वास और निश्चय से भरे हुए हैं। उनमें मनुष्य की शाश्वत आशाएं और सांत्वनाएँ घनीभूत हैं।<sup>[13]</sup> विधि के स्रोतों में 'श्रुति' का स्थान सर्वोपरि है। इसे 'धर्ममूल' कहा गया है। 'वेद' शब्द 'विद्' धातु, घञ् प्रत्यय से बना है, जिसका अभिप्राय 'ज्ञान' से है। वैदिक ज्ञान श्रुति (सुनकर) के द्वारा प्राप्त किया जाता था, अतः वेदों को श्रुति की संज्ञा प्रदान की गई। मीमांसकों ने उसे 'अपौरुषेय' के रूप में वर्णित किया है, जिसका कोई मानव स्रष्टा नहीं है। यह स्वतः उत्पन्न है और स्वतः प्रमाण है (प्रामाण्यं स्वतः उत्पद्यते, प्रामाण्यं स्वतः जायते च)। इस प्रकार वेद स्वयं प्रमाण होने के कारण मानवीय दोषों से मुक्त हैं। वेदों को अपौरुषेय, शाश्वत ज्ञान तथा विधि का सङ्ग्रह माना गया है। मीमांसकों ने वेद को पाँच भागों में विभक्त किया है –

1. विधि – वेद विहित आचरण करना। यथा – 'सत्यंवेद, धर्मचर'।
2. मंत्र – वेदों में देवताओं को आह्वान करने की स्तुतियाँ।
3. नामधेय – विभिन्न ऋषियों या वस्तुओं का नाम।
4. निषेध – अविहित आचरण के सम्पादन का निषेध। यथा – 'स्वाध्याये प्रमादं मा कुरु'।

<sup>9</sup> मनु. (1/88-91)

<sup>10</sup> स्त्रीधर्मयोगं तापस्यं मोक्षं सन्यासमेव च।

राज्ञश्च धर्ममखिलं कार्याणां च विनियमम्।। (मनु., 1/115)

<sup>11</sup> मनु. (5/150-155)

<sup>12</sup> अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।

अन्ये कलियुगे नृणां युगहासानुरूपतः।। (मनु., 1/85)

<sup>13</sup> डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, धर्म और समाज, पृ. 129

5. अर्थवाद – विहित या अविहित कार्य के सकारण सम्पादन या निषेध की आज्ञा।

विधि के स्रोत की दृष्टि से विधि, निषेध तथा अर्थवाद का विशेष महत्त्व है। वेद विभाग के मध्य परस्पर संघर्ष की स्थिति में विधि को प्राथमिकता दी जाती है। आपस्तम्ब ने वेद-वचन को ही विधि का आधार माना है।<sup>[14]</sup> शबरस्वामी का मत है कि वेद के सभी अंश विधि का आधार है। इतना अवश्य है कि उनका एवं नियमित क्षेत्रों में ही किया जाता है।<sup>[15]</sup>

वस्तुतः हिन्दू-विधि के विकास की प्रक्रिया ऋत से प्रारम्भ होती है। ऋत के नैसर्गिक व्यवस्था को व्यक्त करने वाले संहिताबद्ध रूप वेद है।<sup>[16]</sup> किन्तु परवर्ती काल में समयाचार तथा अवैदिक जातियों की अन्य विधियों का विकास हुआ, जिनकी समग्र व्यवस्था करने में वेद सफल नहीं सिद्ध हुए। विधि का सम्बन्ध समाज से होने से उसका प्रबलतम अंश 'समयाचार' के रूप में विकसित हुआ। वेद 'समयाचार' का स्रोत नहीं बन सका।<sup>[17]</sup>

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यद्यपि वेद प्राचीन भारत की विधि व्यवस्था के मूल आधार तो हैं, फिर भी मुख्यतः ज्ञान एवं कर्मकाण्ड मूलक होने के कारण विधि व्यवस्था से सम्बन्धित सभी नियमों की पूर्ण व्याख्या करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं। विधि व्यवस्था से सम्बन्धित नियमों का वेदों में से चयन करना पड़ता है और उनमें विधि-व्यवस्था से सम्बन्धित समस्त नियमों का अभाव भी है।<sup>[18]</sup> इस सम्बन्ध में पी.वी. काणे का यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि वेद धर्म सम्बन्ध निबन्ध नहीं है। वहाँ तो धर्म सम्बन्धी बातें प्रसङ्गवश आती गयी है। यदि हम धर्म का व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध रूप देखना चाहते हैं तो हमें स्मृतियों का अवलोकन करना होगा।

स्मृतियों का उद्गम धर्मसूत्रों से हुआ है तथा सूत्रों में भी समयानुकूल परिवर्तन और परिवर्धन किया गया जिसके फलस्वरूप स्मृतियाँ अस्तित्व में आईं।<sup>[19]</sup> स्मृतियों में प्रतिपादित वर्णधर्म, आश्रमधर्म, संस्कार धर्म, राजधर्म, निमित्त-नैमित्तिक धर्म आदि का ही समाज में पालन होता है। इससे स्पष्ट है कि स्मृतियाँ ही धर्मशास्त्र हैं।<sup>[20]</sup>

### स्मृति

स्मृतिशास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। स्मृतियाँ प्रायः पद्य में हैं तथा स्मृतियों की भाषा लौकिक संस्कृत है। वेदों की विषय वस्तु का विशदीकरण एवं स्पष्टीकरण स्मृतियों में प्राप्त होता है। स्मृतियों में मानव के सामाजिक जीवन के ग्राह्य तथा अग्राह्य नियमों का विवेचन किया गया है। डॉ. निरूपण विद्यालंकार ने धर्मसूत्रों तथा श्लोकात्मक स्मृतियों का प्रधान विषय वर्णधर्म तथा आश्रमधर्म माना है।<sup>[21]</sup> पूर्वकाल से लेकर सूत्रकाल तक सामाजिक व्यवस्था के जो नियम थे, उन्हीं का सङ्ग्रह स्मृतियों में प्राप्त होता है।<sup>[22]</sup> स्मृतियाँ भारतीय वाङ्मय में विधि ग्रन्थों के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनमें आचार-विचार के साथ-साथ न्याय की भी विस्तृत व्याख्या की गई है तथा तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्थाओं का विवेचन एवं चारों वर्गों के कर्तव्यों और अकर्तव्य के निर्णय के का निर्धारण भी किया गया है।<sup>[23]</sup> गीता में भी कर्तव्य और अकर्तव्य के निर्णय के लिए स्मृति शास्त्रों को प्रमाण बताया गया है।

<sup>14</sup> आप.ध., 2.12-13

<sup>15</sup> जै.सू. 1.2.1 पर शा.भा.

<sup>16</sup> हरिहरनाथ त्रिपाठी, प्राचीन भारत में अपराध और दण्ड, पृ. 98

<sup>17</sup> आप.ध., 2.29.3

<sup>18</sup> मुरलीधर चतुर्वेदी, प्राचीन भारतीय विधि व्यवस्था (मनुस्मृति के विशेष सन्दर्भ में), पृ. 4

<sup>19</sup> कुन्दनलाल शर्मा, कल्पसूत्र, पृ. 471

<sup>20</sup> शब्दकल्पद्रुम, भाग-2, पृ. 787

<sup>21</sup> निरूपण विद्यालंकार, भारतीय धर्मशास्त्र में शूद्रों की स्थिति, पृ. 13

<sup>22</sup> वाचस्पति गैरोला, वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ. 436

<sup>23</sup> वाचस्पति गैरोला, वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ. 337

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि स्मृतियों में मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष से सम्बन्धित सभी नियमों का समावेश किया गया है जो मनुष्य के लिए कल्याणकारी है तथा समाज व्यवस्था के संचालन में भी सहायक है। स्मृतियों में वर्णित विषयवस्तु की दृष्टि से स्मृतियों की विषयवस्तु तीन भागों में विभाजित है – आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त।

**सदाचार** – धर्म के स्रोत के रूप में सदाचार को भी प्रमाण माना गया है। इसे प्रमाण मानने की आवश्यकता इसलिए पड़ी क्योंकि समाज द्वारा स्वीकृत अनेक ऐसे व्यवहार एवं परम्पराएँ हैं जिनकी सङ्गति शास्त्रों के अन्तर्गत बैठाने में कठिनाई ही नहीं प्रतीत होती है बल्कि इनकी सङ्गति बैठाना प्रायः असम्भव सा प्रतीत होता है। अतः इन परिस्थितियों में सदाचार द्वारा ही धर्म का निर्णय किया जाता है। मनु ने भी राजा द्वारा व्यवहार-दर्शन के अवसर पर यह उल्लेख किया है कि राजा को व्यवहार-निर्णय में देश, जाति, कुल के व्यवहारों तथा साक्षी आदि तथ्य निर्धारक तर्कों के आधार का आश्रय लेना चाहिए।<sup>[24]</sup>

याज्ञवल्क्य ने धर्म के मूल के रूप में भी सदाचार को स्वीकृति दी है।<sup>[25]</sup> किन्तु महर्षि जैमिनी श्राद्धाचार्य को दुर्बल प्रमाण मानते हैं। उनकी मान्यता है कि प्रत्येक आचार के मूल में कोई न कोई स्मृति गृहीत होती है जिसका अन्वेषण करना चाहिए तथा उस स्मृति का मूल आधार कोई श्रुति वाक्य होता है। ये दोनों ही बातें आचार को प्रमाणित करने के लिए आवश्यक है। ऐसी स्थिति में 'आचार' तृतीय स्तर पर आता है और वह भी श्रुति-स्मृति के आधार पर। अतः यह दुर्बल प्रमाण है।

उपर्युक्त 'आचार' के स्वरूप पर विचार करने से प्रतीत होता है कि प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षतः सभी विद्वानों ने 'आचार' को धर्म का मूल स्वीकार किया है।

### संदर्भ

1. काणे, पाण्डुरंग वामन, *धर्मशास्त्र का इतिहास*, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1965
2. केसरी, यू.पी.डी., *प्रशासनिक विधि*, सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, 20वां संस्करण, 2008
3. चतुर्वेदी, मुरलीधर, *भारत का वैधानिक एवं संवैधानिक इतिहास*, ईस्टर्न बुक कम्पनी, लखनऊ, द्वितीय संस्करण 2004
4. तिवारी, रामनिवास, *हिन्दू विधि विवेक*, पिलग्रिम्स पब्लिशिंग, वाराणसी, प्र.सं. २००७
5. दिनकर, रामधारी सिंह, *संस्कृति के चार अध्याय*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1956
6. दूबे, राजदेव, *स्मृतिकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति*, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1988
7. परांजपे, एन.वी., *भारत का विधिक एवं संवैधानिक इतिहास*, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद, सप्तम संस्करण 1998
8. प्रतिभा आर्य, *स्मृतियों में राजनीति और अर्थशास्त्र*, विश्वभारतीय अनुसंधान परिषद्, ज्ञानपुर, वाराणसी, प्रथम संस्करण 1987
9. मोती बाबू, *हिन्दी विधि शब्दावली*, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1969
10. रविन्द्र नाथ, *प्राचीन भारतीय विधि दर्शन*, किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद, 1989
11. राधाकृष्णन्, सर्वपल्ली, *धर्म और समाज*, राजपाल एण्ड सन्ज प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 1960
12. विद्यालङ्कार निरूपण, *भारतीय धर्मशास्त्र में शूद्रों की स्थिति*, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1971

<sup>24</sup> प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः।

अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक्-पृथक्।। (मनु०, ८/३)

<sup>25</sup> श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।

सम्यक् सङ्कल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्। (याज्ञ०, १/७)

13. शशि कश्यप, *धर्मशास्त्रों में न्याय व्यवस्था का स्वरूप*, न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली, प्र.सं. 2001
14. शीबा प्रवीण, *वर्तमान में मनुस्मृति की प्रासंगिकता*, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2007
15. सिंह, श्याम नारायण, *प्राचीन भारत में व्यवहार विधि*, स्वाति पब्लिकेशन्स, प्र.सं. 2005
16. Ahmed, Akeel, Mohamadan Law, Central Law Agency, Allahabad, 22th Edition 2007.
17. Choube BN. Principles of Dharamasāstra, Allahabad, Law Journal Press, Allahabad, 1948.
18. Davis Donald R. The Spirit of Hindu Law, Cambridge, Cambridge University Press, 2010.
19. गैरोला, वाचस्पति, *संस्कृत साहित्य का इतिहास*, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1960
20. चतुर्वेदी, मुरली, बी.डी. कुलश्रेष्ठ कृत भारत का वैधानिक एवं संवैधानिक इतिहास, ईस्टर्न बुक कम्पनी, लखनऊ, द्वितीय संस्करण, 2004